प्रियग्रन्थ माला का १८ वां पुष्प

वैदिक-सूर्य-विज्ञान

लेखक
श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष
(वैदिक संस्थान गुरुकुल वृन्दावन)

प्रकाशक
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा।
देहली

प्रथम बार] सम्वत् १९९४ [मूल्य =)

पूर्व वचन

श्री पं० प्रियरत्न जी आर्ष का निबंध वैदिक-सूर्य्य विज्ञान विषय पर प्रकाशित किया जाता है। वेद का ज्ञान सर्वसाधारण की चीज़ बन जावे इसके लिये आवश्यक है कि वेद की शिक्षाओं के विस्तार करने वाले अनेक ऐसे छोटे छोटे ट्रैक्ट और बड़े ग्रन्थभी प्रकाशित किये जावें। इसी उद्देश्यसे यह निबंध प्रकाशित हुआ है।

आर्ष जी ने खोज और परिश्रम से निबंध लिखा है। आशा है जनता उससे लाभ उठावेगी।

—नारायण स्वामी

❀ ओ३म् ❀

वैदिक-सूर्य-विज्ञान
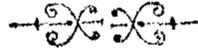
वैसे तो खगोल में असंख्य ग्रह और तारे हैं, अतिदूर होने से उनमें प्रत्येक क्या है इसका पता लगाना मानवीय मस्तिष्क से परे है। तथापि ज्योतिर्विद् विद्वानों ने उनकी पांच कोटियां निर्धारित की हैं जोकि ग्रह, धूमकेतु, नक्षत्र, राशि और ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें जो तारे खगोल के क्षेत्र में स्थानान्तर गति करते हुए स्थूलाकार में आंखों से या दूरवीक्षणयन्त्र से प्रायः नित्य या वर्ष में नियत काल तक दिखलाई पड़ते हैं वह ग्रह कहलाते हैं। जो कभी तीस चालीस या पचास सौ या इस से भी अधिक वर्षों में लम्बायमान पुच्छ से युक्त आते और जाते दृष्टिगोचर होते हैं वे धूमकेतु कहे जाते हैं। जो तारे वृत्तरूप क्षेत्र में परस्पर सदा नियत स्थान पर रहते हुए वृत्त के साथ साथ गतिमय दिखलाई पड़ते हैं तथा ग्रहगति के परिचायक हैं वे नक्षत्र हैं। उक्त नक्षत्र-वृत्त के या ग्रह के गतिचक्र के बारह सम-विभागों का नाम राशि है, और जो इन चारों में न आकर ध्रुव को आधार बनाकर वर्त्तमान हैं वे तारे ऋषिसंज्ञक हैं।

वेद में राशि

कुछ विद्वानों का कथन है कि वेद में ग्रह, धूमकेतु, नक्षत्र और ऋषि का वर्णन तो मिलता है परन्तु राशि का नहीं। हमारा कथन है कि वेद में राशि का वर्णन है, देखिये—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताःषष्टिर्न चलाचलासः॥
(ऋ० १। १६४। ४८)

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से बतलाया हुआ है कि एक चक्र में 'द्वादश प्रधयः' बारह प्रधियां होती हैं, ये ही बारह प्रधियां अर्थात् प्रधान भाग ही राशियां हैं, चक्र अर्थात् कक्षावृत्त के बारह प्रधान भागों का ही नाम तो राशि है। देखिये जयपुर के राजज्योतिषि पं० केदारनाथ जी की रची लोकमान्य तिलक निर्मित 'ओरायन' के अनुवादरूप "वेदकाल निर्णय" पुस्तक में—"कक्षावृत्त को १२ तुल्य भागों में बांट दिया है एक एक भाग को राशि कहते हैं" (भूमिका पृष्ठ ४) अस्तु। यहां पर यह एक बात कही जासकती है कि 'द्वादश प्रधयः' का 'द्वादश राशयः' अर्थ यदि है तो निरुक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों में इस मन्त्र का अर्थ संवत्सरात्मक काल चक्रपरक मान 'द्वादश प्रधयः" का बारह महीने अर्थ क्यों किये तथा साथ 'त्रीणि नभ्यानि" का तीन ऋतुएँ 'त्रिशता षष्टिः शङ्कवः' का वर्ष के तीन सौ साठ अहोरात्र किए हैं। हमारा इसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि निरुक्त आदि का अर्थ आंशिक है, मन्त्र में न काल शब्द है, न मास, न ऋतुएँ और न अहोरात्र हैं किन्तु चक्र,

प्रधि, नभ्य और शंकु शब्द हैं। चक्र में बारह प्रधियां, तीन नभ्य और तीन सौ साठ शंकु होते हैं चाहे वह संवत्सरात्मक काल-चक्र हो, नक्षत्र-चक्र हो, ग्रह चक्र हो या रेखा-चक्र हो यह अभिप्राय है। इस अवस्था में एक चक्र में 'द्वादश प्रधयः' बारह राशियां 'त्रीणि नभ्यानि' नभ्यानि नाभौ भवानि व्यासपरिमाणानि 'भवे छन्दसियत्' अष्टा० (४।४।११०) नाभि अर्थात् केन्द्र में होने वाले व्यासपरिमाण तीन एक चक्र में होते हैं, तीन व्यास-परिमाणों के बराबर अर्थात् व्यास से तीन गुणा चक्र का माप होता है एवं 'त्रिशता षष्टिः शङ्कवः, तीन सौ साठ शंकु अर्थात् अंश (Digrees) एक वृत्त में होते हैं। किसी भी छोटे या बड़े वृत्त का तीन सौ साठवां भाग गोल नहीं अपितु सीधा अँश समझा जाता है यही बात मन्त्र में आए शंकु शब्द से व्यक्त होती है। बस, इस मन्त्र का यह व्यापक अर्थ है जो खगोल के सभी गोलों के कक्षावृत्त और इन गोलों की गतिविधि के ज्ञान कराने वाले रेखागणित-सिद्धान्त का मूल मन्त्र है। इस मूल मन्त्र की 'द्वादश प्रधयः' बारह राशियां किसी ग्रह के कक्षावृत्त के बराबर बारह भागों में, नक्षत्र-वृत्त में कुछ नक्षत्रों के बारह समूहों में, संवत्सरात्मक कालचक्र के बारह महीनों में, घड़ी के चक्र में वर्त्तमान बारह बजों में क्यों न समझी जावें। वरन एक चक्र में 'द्वादश प्रधयः' बारह राशियां होती हैं। इस मूल अर्थ में कोई क्षति नहीं आती। घड़ी के आविष्कर्त्ता ने घटी चक्र में बारह बजाए यह तो ठीक किया परन्तु उसने एक गलती की है, वह यह कि पृथिवी के दैनिक गति चक्र के आधे

चक्र में ही बारह बजा दिए किन्तु पृथिवी के पूरे चक्र में बारह बजाने चाहिएं थे, अपने घटी-चक्र को पृथिवी-चक्र के साथ रखना चाहिए था। मालूम होता है घड़ी के आविष्कर्त्ता को पृथिवी गोल है यह ज्ञान न होगा, यदि था तो उसने यह काम ज्योतिर्विद्या के विरुद्ध किया, उसको दिन रात भर में एक बार ही दिन के मध्य में १२ बजाने थे। संवत्सरात्मक काल-चक्र भी तो स्वतन्त्र वस्तु नहीं, वह भी भिन्न भिन्न रूप में नक्षत्रों, ग्रहों के कक्षा-चक्र के आश्रित होता है। वहां चन्द्र, शुक्र आदि ग्रहों के कक्षा चक्र की १२ राशियां ही तो अमुक अमुक ग्रह के १२ मास होते हैं। इसलिये 'द्वादश प्रधयः' का अर्थ 'द्वादश राशयः' समुचित उपपन्न होकर वेद में राशि विज्ञान है यह बात सुतरां सिद्ध हुई।

निबन्ध का विषय 'सूर्य विज्ञान' है अतः खगोल विषयक अन्य बातों पर न कह कर अब 'सूर्य-विज्ञान' की ओर आता हूँ। सूर्य विज्ञान में सूर्य की उत्पत्ति, सूर्य का स्वरूप, सूर्य का आकार, सूर्य की गति, सूर्य का अन्य गोलों के साथ सम्बन्ध, सूर्य की रश्मियां और सूर्य से यान्त्रिक एवं आयुर्वैदिक उपयोग, इन सात बातों का समावेश है। अब हम उनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

सूर्य की उत्पत्ति

दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते,

राजाना मित्रावरुणा विवाससि।

अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा,
सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु ॥
(ऋ० १० । ६४ । ५)

इस पर निरुक्त—

अते कर्माणि अतूर्त्तपन्थाः अत्वरमाणपन्थाः,
पुरुरथो बहुरथः, अर्यमाऽऽदित्यः ।
सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयः,
विषुरूपेषु जन्मसु कर्मसूदयेषु ॥
(नि० ११ । २३)

यहां "दक्षस्य वादिते जन्मनि" में वा शब्द से दक्ष का अदिति से जन्म अथवा अदिति का दक्ष से जन्म हुआ ऐसा अभिप्राय होने से इस मंत्र के दो अर्थ हैं। मन्त्र के दोनों अर्थों में दक्ष तो आदित्य है और अदितिका अर्थ अखण्ड अग्नित्व है जबकि उससे आदित्य का जन्म लिया जावे "अग्निरप्यदितिरुच्यते" (नि०।११।२३) और जब आदित्य से उसका जन्म समझा जावे तब अदिति का अर्थ पृथिवी है "अदितिः पृथिवीनाम" (नि० १ । १)। हमें चूँकि आदित्य की उत्पत्ति दिखलानी है अतः 'अदिति' के अखण्ड अग्नित्व वाले प्रथम पक्ष के अर्थ को ही लेंगे।

प्रलय के अन्धकार के बाद सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य आदि ज्योतिष्खण्ड जब खण्ड की अवस्था में प्रकाशमान नहीं हुए थे

किन्तु खण्डरूप में विभक्त होने को थे ही तो जिस वस्तु के ये खण्ड खण्ड बनकर पृथक् हुए वह खण्डरहित सर्वत्र फैली हुई सूक्ष्म ज्योति थी। वह अखण्ड ज्योति वेद में अदिति (अ-दिति= अ-खण्ड) नाम से कही गई है। उसी अदिति नाम की अखण्ड ज्योति से पुनः स्थूल ज्योति के रूप में उसके खण्ड खण्ड हो गए, उसका एक एक खण्ड एक एक सूर्य बना, इसलिये सूर्य को 'आदित्य' अर्थात् अदिति-अखण्ड ज्योति से उत्पन्न हुआ, यह यौगिक नाम वेद में दिया गया है। वह आदित्य जब समीचीन रूप से प्रकाशमान हुआ तो तभी उसमें पृथिवी आदि गोलों को ऊष्मा (हरारत) और प्रकाश (रोशनी) से आगे टक्कर देने वाली शक्ति "मित्र" नामसे मि+त्र 'मि प्रक्षेपणे (स्वादिः)'† तथा दूसरी उसके विपरीत सौम्य धर्म की उन्हीं भूगोल आदियों को संवरण करने वाली-अपनी ओर आकर्षित करने वाली शक्ति वरुण नाम से 'वृ वरणे' (स्वादिः) वृ+उनन् ❀ वेदों में कही गई है। ये दोनों 'मित्रावरुणौ' उसी समय सूर्य से अभिव्यक्त हुई। पुनः उन भूगोल आदि के प्रति भिन्न भिन्न प्रदेश में सप्तरश्मि (सात किरणों वाला) सूर्य उदय होने लगा।

उक्त 'मित्रावरुणौ' शक्तियां सौर मण्डल के प्रत्येक गोल पर अपना प्रभाव निरन्तर डालती हैं। 'मित्र' शक्ति उस गोलको ऊष्मा

---

†"अमिचिमिशसिभ्यःक्त्र" (उणा० ४।१६४)

❀"कृवृदारिभ्य उनन्" (उणा० ३ । ५३)

से आगे टक्कर देती है पुनः दूसरी वरुण शक्ति उसे अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इस प्रकार दोनों शक्तियां उस पृथिवी गोल आदि की चक्रगति में कारण हैं, मानो 'मित्रावरुणौ' सूर्य की दो भुजाएँ हैं उनसे वह पृथिवी आदि गोलों को पकड़ घुमाया करता है "बाहू वै मित्रावरुणौ" (शत० ५ । ४ । १ । १५) यद्यपि इन गोलों के घूमते रहने से दोनों 'मित्र वरुण' शक्तियों का प्रभाव निरन्तर सर्वत्र पड़ता ही है तो भी गोल के प्रदेशों में इनके प्रभाव का प्रधान और गौणभाव होता रहता है। जब ऊष्मा और प्रकाश से युक्त 'मित्र' शक्ति गोल के जिस प्रदेश पर विशेष काम करती है तब उस प्रदेश पर उस 'मित्र' शक्ति की प्रधानता का प्रभाव दिन के रूप में दिखाई पड़ता है इसीलिये कहा भी है "मैत्रं वा अहः" (तै० १।७।१०।१) इसी प्रकार जब ऊष्मा और प्रकाशधर्म वाली 'मित्र' शक्ति अपना प्रभाव गोलके जिस प्रदेश से हटाकर गौणरूप से रहती है तब उस प्रदेश पर उसके विपरीत आकर्षण और सौम्यधर्म वाली 'वरुण' शक्ति विशेष काम करती है और उस प्रदेश पर स्तब्धता, शून्यता तथा उदासी-नता आदि विशेष प्रभाव रात्रि के रूप में प्रतीत होता है, अतएव कहा है "वारुणी रात्रिः" (तै० १ । ७ । १० । १) अस्तु । इस प्रकार "दक्षस्य वादिते जन्मनि" इस मन्त्र का यह समग्र अर्थ और अभिप्राय हुआ । अदिति नाम की अखण्ड ज्योति से आदित्य अर्थात् सूर्य की उत्पत्ति दर्शा देने के अनन्तर सूर्य के स्वरूप का वर्णन किया जायगा।

सूर्य का स्वरूप

"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि" (ऋ० १।६।१)

आकाश में जितने प्रकाशमान गोले ग्रह तारे प्रकाशित हो रहे हैं वे सब 'ब्रध्नम् अरुषम्' महान् अग्निपुञ्ज सूर्य को अपेक्षित करते हैं । इसी मन्त्र पर "असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषः (शत०-१३ । २ । ६ । १)" ब्रध्नो महन्नाम "(नि० ३ । २) अग्निर्वा अरुषः" (तै० ३ । ६ । ४ । १) इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि सूर्य आकाश में प्रकाशमान गोलों से भी बड़ा भारी अग्नि का गोला है । अब सुनिये सूर्य में क्या वस्तुएँ हैं:—

"य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।
(ऋ० १ । १५४ । ४)

अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानः। (ऋ० ३ । २६ । ७)

वैसे तो सूर्य में अनेक धातुएँ हैं परन्तु विभागक्रम से या प्रधानरूप से तीन धातुएँ हैं जो जल जल कर सूर्य को इस प्रचण्ड रूप में बनाये रखती हैं और उसको आकश के अन्य गोलों पर अभिभावित करती है । वे धातुएँ विभाग क्रम से ठोस, द्रव और वायव्य अर्थात् वायुरूप से स्फुरित या प्रसृत होने वाली एवं तीन प्रकार की हैं, इन्हीं तीन प्रकार की धातुओं के परिणाम सूर्य में अग्निपिण्ड की स्थिरता, ज्वाला लाटों का निकलना, और किरण-

प्रसार या किरणसमूह ये तीन क्रमशः हैं। इन तीनों का वर्णन वेद के निम्न मन्त्र में है—

वीलु चिदारुजत्नुभि गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ (ऋ० १ । ६ । ५)

मन्त्र में उन तीनों को 'इन्द्र, वन्हियां और उस्त्रियां' नामों से कहा है। इस मन्त्र का समग्र अर्थ और विचार हम अभी आगे करने वाले हैं। यह तो हुआ विभाग क्रम से वर्णन। प्रधान रूप से वह तीन धातुएँ हैं, लोहा, गन्धक और महाक्षार (शोरक, स्फोरक)। ये धातुएँ सूर्य में प्रधान रूप से हैं, अन्य लोहे सदृश धातुएँ लोह के, गन्धक सदृश धातुएँ गन्धकके और शोरे सदृश धातुएँ शोरेके अन्तर्गत होजाती हैं। इन्हीं पदार्थों का संगठित महान गोल पिण्ड प्रज्वलित हो सूर्यरूप में परिणत हुआ, ऐसा अध्यात्मदर्शन और विज्ञान प्रक्रिया से सिद्ध होता है। जैसे धूम रहित अग्नि में उसके अन्दर का कोयला और घृत, तैल आदि पार्थिव पदार्थ उसकी दीप्ति तथा स्थिरताके हेतु होते हैं इसी प्रकार सूर्य में उपर्युक्त लोह गन्धक आदि पार्थिव पदार्थ निरन्तर जल २ कर उसकी प्रदीप्त स्थिति के कारण रूप हैं। उक्त धातुओं में भी सूर्य की प्रदीप्त पिण्डावस्था का रक्षक असितरंग लोहधातुविशेष है। वेद में कहा भी है "प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षिता" (अथ० ३ । २७) सूर्य में लोह धातु है वह भी सामान्य लोहे जैसा नहीं, किन्तु कान्त लोहे फौलाद जैसे कुछ नीवे रंग से मिश्रत रंग का तथा काली

सज्जी की तरह पाषाण भाग से मिश्रित लोह है। चूंकि सूर्य के लोहे में अन्य प्रचण्ड होने वाली उपर्युक्त धातुएँ भी मिली हुई हैं अतः सूर्य का लोह वज्रलोह है यह बात भी मन्त्रप्रतिपादित है। "त्वमायसं परिवर्त्तयो गोर्दिवो अश्मानम्" (ऋ० १। १२१। ९) अस्तु, अब लीजिये सूर्य का विभागात्मक वर्णन। इसके लिये देखिये निम्न मन्त्र:—

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः।
अविन्द उस्रिया अनु॥ (ऋ० १। ६।५)

यह मन्त्र "युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषम्" इस सूर्य विषयक सूक्त का है। सूर्य्य का विभागात्मक वर्णन इस मन्त्र में किया है। हम पहले इस मन्त्र का अन्वयार्थ कर देते हैं पुनः विभागात्मक स्पष्टी-करण किया जावेगा।

अर्थ—(गुहाचिदिन्द्र) सूर्यस्य गुहासुचित इन्द्र ! सूर्य की गुहाओंमें वर्तमान इन्द्र ! तू (वीलु चिदारुजत्नुभिर्वह्निभिः) बलवान एवं तीक्ष्ण वह्नियों-ज्वाला लाटों से (उस्रियाः) किरणोंको (अन्व-विन्द) प्राप्त हुआ है।❀

इस मन्त्र में इन्द्र, वह्नियां और उस्रियाएँ ये तीन सूर्य की विभागात्मक या अवयवात्मक वस्तुएँ बतलाई हैं। इनका कुछ संकेत पीछे कर आए हैं अब यहां प्रत्येक का विवरण करते हैं।

❀गुहा-गुहासु, वीलु-वीलुभिः, यहां "सुपां सुलुगिति" (अष्टा० ७। १। ३९) से विभक्तिलुक् है।

इन्द्र सूर्य को भी कहते हैं क्योंकि सूर्य का प्रधान अवयव इन्द्र है परन्तु इस मन्त्र में इन्द्र को सूर्य की गुहाओं में वर्तमान हुआ कह देने से इन्द्र का अर्थ सूर्य नहीं किन्तु सूर्य के अन्दर का प्रधान भाग ही है। इन्द्र विद्युत् का नाम है और वह अन्तरिक्ष स्थानका देवता है। "यदशनिरिन्द्रः" (कौ० ६। ६) "इन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः" (निरुक्त दै० ७। ५) विद्युत् में लोह जैसा वज्ररूप कोई पदार्थ होता है, जैसे तोप का गोला किसी दीवार आदि को तोड़ कर अन्दर घुस जाता है एवं विद्युत्-जब किसी मकान पर गिरती है तो उसे तोड़कर अन्दर घुस जाती है। एक बार मैंने देखा था, सहारनपुर में पुराने बजाजे के पास वाली मसजिद के गुम्बद पर विद्युत् गिर कर अन्दर घुस गई थी। उस गुम्बदमें एक मोटा छिद्र हुआ। उस समय मैंने और अनेकों ने देखा था। खेत आदि में गिरी विद्युत् के लोहे जैसे लम्बे २ खण्ड भी पाए गए हैं। अतः विद्युत् एवं वैदिक नाम से इन्द्र लोहरूप वज्रमय वस्तु है। वह सूर्य में स्थित हुआ भी लोहरूप वज्रमय ही समझना चाहिए। वेद में भी ऐसा भाव मिलता है। "इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वति" (ऋ० १।८४।११) इन्द्र की धाराएं वज्र को धकेलती हैं। इसलिये ये सूर्यकी गुहाओंमें अर्थात भीतरी भाग में 'इन्द्र' वज्र वस्तु है जो लोह आदि ठोस वस्तुओं का परिणाम है। विदित हो विद्युत् के वज्र में स्फोटक (पोटास) भी है परन्तु सूर्य वाले इस वज्र में पोटास नहीं है, या इतना है जो नहीं के बराबर है वरन वह छिन्न भिन्न हो जाता। दूसरी वस्तु

सूर्य में है उसके बहिस्तल पर तीक्ष्ण वह्नियां, तीक्ष्ण ज्वाला लाटें, जो गन्धक आदि द्रवण शील पदार्थों का परिणाम है। ये ज्वाला लाटें सूर्यपिण्ड के चारों ओर वेग से बहती हुई दूर २ तक बहती हैं। हम देखते हैं कि यदि पत्थरके कोयलों का एक फुट ऊँचा ढेर कर जला दिया जाय तो ढेर से चार पांच इंच ऊँचे उसकी ज्वाला लाटें उठ जाती हैं भला जो सूर्य लगभग नौ लाख मील व्यास परिमाण का वज्रमय अग्निपिण्ड हो उसकी ज्वाला लाटें दो तीन लाख मील तक सूर्यके गोल में और उसके ऊपर भी उठती होंगी ऐसा सिद्ध होता है। तीसरी वस्तु है 'उस्रियाः' सूर्य की किरणें, जो सूर्य गोला तथा उन्नत ज्वाला-लाटों के बाहर आकाशमण्डल में निरन्तर स्फुरित तथा प्रसृत होती रहती हैं। *इनका दृश्य स्थूल-रूप या किरणमण्डल सूर्यगोल से बीसों लाख मील दूर तक विद्यमान रहता है। पुनः क्रमशः अदृश्य बन वे सारे विश्व में फैलजाती हैं।

ये महाक्षार (शोरा+स्फोर) जैसे वायव्य अर्थात् स्फुरित हो फैलने वाले पदार्थों का परिणाम है। ये किरणें सौर-परिवार के सारे वायु मण्डल में पहुँचती रहती हैं। जैसे अग्नि चूर्ण (बारूद) का महाक्षार स्फोर (शोरा) अग्नि चूर्ण भरे अनार आदि गोलों की अपेक्षा से बीसों तीसों गुना अधिक ऊपर स्फुरित होता है तथा जिस प्रकार पत्थर के कोयले का एक फुटमात्र ऊँचा आदि परिमाण का जलता हुआ ढेर सैकड़ों फुट ऊँचे लम्बे चौड़े हाल

---

*यह किरणमण्डल सर्व सूर्यग्रह में ही दिखलाई पड़ता है।

के वायुमण्डल में गरमी और हलचल पैदा कर देता है एवं सूर्य पिण्ड का इन्द्र (वज्र) वह्नियां (ज्वाला लाटें) और उस्रियाः (किरणें) भी सौर-परिवार के सारे वायुमण्डल में गरमी और हलचल पैदा कर देते हैं। कहा भी है:—

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः। (ऋ० १।५०।१२)

सूर्य किरणें वज्र से प्रेरित हो अभिभावुक बल (Power) को ढकेलती हैं। या यों समझिये कि सूर्य के अन्दर का इन्द्ररूप वज्र ही बलवान् तथा तीक्ष्ण वह्नियों-ज्वाला लाटों के द्वारा अर्थात् प्रथम बलवान् तीक्ष्ण वह्नियां-ज्वाला लाटें बन पुनः उस्रियाओं-किरणों को प्राप्त होता है, किरणों के रूप में परिणत होता है। यह तात्पर्यार्थ प्रकृत "वीलुचिदारुजत्नुभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु" का है। अस्तु।

इस मन्त्र में एक और विशेष बात बतलाई गई है। वह यह कि सूर्य में जो काले धब्बे दिखलाई पड़ते हैं (मैं ने भी पांच सात धब्बे कश्मीर में कोरी आंखों से विशेष अभ्यास द्वारा कुछ वर्ष हुए प्रातः काल ८ बजे तक के समय में देखे थे) पाश्चात्य ज्योतिषियों का इस विषय में मतभेद है। कुछ कहते हैं कि ये काले धब्बे उभार हैं और कुछ कहते हैं कि ये कन्द्रायें हैं। अभी तक ठीक निर्णय पर नहीं पहुंच पाए, परन्तु "वीलु चिदारुजभिर्गुहाचिदिन्द्र वह्निभिः" वेद में पूर्व से ही निर्णय किया हुआ है कि वे गुहाएँ अर्थात् कन्द्राएँ हैं, इन्द्र रूप वज्रमय पदार्थ इन्हीं गुहाओं-कन्द्राओं से अपने तत्त्वों को बाहर

बिखेरता है जिनसे ज्वालाएँ और किरणें निरन्तर बनती रहती हैं। यहां एक प्रश्न का समाधान भी हम कर देना चाहते हैं वह यह कि सूर्य प्रचण्ड रूप से निरन्तर करोड़ों अरबों वर्षों से जल रहा है। इसका जलने वाला पदार्थ (Matter) खतम हो जाना चाहिये। इस विषयमें यह भी उत्तर हो सकता है कि जैसे पृथिवीके अन्दर से लगातार पत्थर का कोयला निकलता जारहा है पर खतम होनेमें नहीं आता एवं सूर्यमें भी जलनेवाला पदार्थ इतना अधिक है कि खतम नहीं हो पाता। परन्तु यह उत्तर सन्तोषजनक तथा युक्ति-युक्त नहीं। चाहे कारुका खजाना भी हो आखिर खर्च होते रहनेसे खतम होजाना ही चाहिये, परन्तु सूर्यके इतिहासमें यह बात घटित नहीं हुई इसीलिये यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। अन्य विद्वान् अभी निर्णयपर नहीं पहुँचे। यह अनुमान अवश्य करते हैं कि सूर्यमें गरमी या तो पूर्णतया किसी अन्य रीतिसे आती है या कमसे कम इसका कुछ अंश अवश्य किसी अन्य रीतिसे आता है। हम इस विषयको स्पष्ट समझमें आजानेके लिये इसी जैसा एक प्रश्न और उठाते हैं वह यह कि प्रतिवर्ष आकाश से पृथ्वी पर करोड़ों अरबों मन पानी गिरता चला आरहा है पर कमी नहीं होती, वह आकाश में इतना पानी कहां से आता है। इसका उत्तर विद्वानों के प्रत्यक्ष है आकाश में यद्यपि सूक्ष्म जल हर वक्त रहता भी है।

"अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" (शत० ९ । २ । ३ । ३९)

पर बरसने वाला जल जितना बरस जाता है पुनः उतना ही पृथिवी पर से पृथिवी के जलाशयों और समुद्र से ऊपर आकाश में चढ़

जाता है। इस प्रकार जल के आने जाने से आकाश का जल खतम नहीं हो पाता। इसी प्रकार सूर्य में स्वयं भी अग्निपुञ्ज स्थित है तथापि सूर्य की उत्पत्ति के साथ ही उसमें दो शक्तियां हैं जो कि "मित्र" अर्थात् सम्प्रेरणशक्ति और 'वरुण' अर्थात् आकर्षण शक्ति, पीछे हम वेदमन्त्र द्वारा बतला चुके हैं। "मित्र" नाम की सम्प्रेरण शक्ति ऊष्मा (गरमी) को पृथिवी आदि पर प्रेरित करती रहती है एवं वरुण नाम की आकर्षण शक्ति गरमी का पुनः आकर्षण करती रहती है। इसलिए सूर्यमण्डल से जितनी गरमी निकलती है उतनी ही पुनः प्राप्त भी होती रहती है। अतः सूर्य के आकार या ताप में कमी नहीं हो सकती। यदि सूर्य में "मित्र" शक्ति-सम्प्रेरणशक्ति गरमी को धकेलने की शक्ति ही होती और वरुण शक्ति-आकर्षण शक्तिगरमी को लौटाने की शक्ति न होती तो अब तक सूर्य से गरमी के आते रहने से पृथिवी के पदार्थ जल भुन जाते। दिन भर गरमी सख्त पड़ी, भूमि तप्त तवा बनी, रात में ठण्डी होगई, आखिर वह गरमी भूमि से निकलकर आकाश में ही तो उड़ी। या यों समझिये सूर्य की मित्र-शक्ति- सम्प्रेरण-शक्ति जितनी गरमी पृथिवी आदि पर फेंकती है, वरुण शक्ति-आकर्षण शक्ति पृथिवी आदि से पार्थिव आदि तत्वों को ऊपर लेजा पुनः उतनी ही गरमी पैदा करने का निमित्त बनती है। इसलिये सूर्य न खतम होने वाला अग्निपुञ्ज है यही वेद में कहा है।

"अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मः" (ऋ० ३।२६।७)

अर्थात् सूर्य तीन धातुओं वाला, प्रत्येक गोल का थामने वाला, न खतम होने वाला तप्त अग्नि पुञ्ज है। अस्तु। इस प्रकरण के साथ सम्बन्ध रखने वाली एक और बात यह है कि—

"दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः

(ऋ० ७। ६३। ४)

इस मन्त्र में यह विचार दिया है कि यह जो सूर्य अनेकों पृथिवी आदि गोलों का चमकाने वाला इतना तीक्ष्ण ताप देने वाला आकाश में एक छोटा भूषण जैसा दिखाई पड़ता है यह छोटा नहीं है किन्तु 'दूरे अर्थः' 'दूरेऽर्थो मण्डलं यस्य, इसका मण्डल, पृथिवी आदि गोलों से दूर है। यहां 'दूरेऽर्थः' में 'अर्थ' शब्द मण्डल के लिये है। 'अर्थ' शब्द का प्रयोग मण्डल के लिये निम्न मन्त्र में भी देखिये—

यं सीम कृण्वन्तमसे विपृचे ध्रुवक्षेमा अनवस्यतो अर्थम्।
तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वी स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति॥

(ऋ० ४। १३। ३)

स्थिर सत्ता वाली सात रङ्ग की किरणें, अन्धकार को हटाने के लिये 'अर्थम्' मण्डलको-प्रकाश मण्डल को 'अनवस्यन्तः' न्यून या क्षीण न करती हुई, जिसको अपना आधार बनाए हुए हैं, उस सारे जगत् के रूप देने वाले सूर्य को वहन करती हैं।

इस मन्त्र में भी किरणों को 'अनवस्यतोऽर्थम्'-प्रकाशमण्डल-सूर्य मण्डल को खतम न करती हुई कहने से सूर्यमण्डल से

अपनी ऊष्मा कभी कम नहीं होती यह ध्वनित होता है। अस्तु। यहां तक हुआ सूर्य का स्वरूप। अब 'सूर्य का आधार' इस के सम्बन्ध में कहते हैं।

सूर्य का आधार

—※—

बहिष्ठेभिर्विहरन्यासि तन्तुमव्ययन्नसितं देव वस्म।
दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमोऽप्स्वन्तः॥
अनायतो अनिबद्धः कथायं न्यङ् ङुत्तानोऽवपद्यते न।
कया याति स्वधया को ददर्श दिवः स्कम्भः समृतः
याति नाकम् ॥ (ऋ० ४ । १३ । ४)

अर्थ—(देव) ओ विश्व के द्योतमान झाड़फ़ानूस रूप सूर्य ! तू (बहिष्ठेभिर्विहरन) अत्यन्त वहनशील किरणों द्वारा चमचमाता हुआ (असितं वस्म) विना बंधे हुए आस्माने-आकाश रूप शामयाने में (तन्तुमव्ययन्) डोरी को न स्वीकार करता हुआ, विना डोरी के लटका हुआ। (यासि) घूमता फिरता है। (सूर्यस्य दविध्वतो रश्मयः) तुझ सूर्य की दीप्ति से फरकती हुई किरणें (अप्स्वन्तस्तमः) अन्तरिक्ष में से अन्धकार को (चर्मेवावाधुः)जैसे शरीर में से चमड़ी के हटा देने से अन्दर की हृदय, फुप्फुस आदि यन्त्र कला दीखने लगती हैं एवं अन्तरिक्ष में से

अन्धकार को विश्व की यन्त्र कला दिखलाने के लिये हटा देती हैं। यह झाड़फानूस रूप सूर्य न केवल डोरी के विना ही अपितु (अनिबद्धः) निबद्ध अर्थात् जड़ा हुआ चिपका हुआ भी नहीं जैसे एञ्जिन में या विमान में जड़ा हुआ-चिपका हुआ लेम्प जलता है। तथा (अनायतः) आयत खिंचा हुआ किसी दूसरे से आकर्षित किया हुआ भी नहीं है। अहो, आश्चर्य! (अयम्-उत्तानः) यह ऊपर टंगा हुआ (कथा न) क्यों नहीं (न्यङ्ङवपद्यते) नीचे गिर पड़ता। (कया स्वधया याति) किसी स्वधारण शक्ति से विचरता है, इस बात को (को वेद) प्रजापति जानता है, यह बात मानव मस्तिष्क से परे है "प्रजापतिः वै कः" (ऐ० २।३८) अथवा (कया स्वधया याति) किस स्वधारण शक्ति से विचरता है। इस बात को (को ददर्श) कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं। यह बात मानव मस्तिष्क से परे की है। दोनों अर्थों में 'स्वधया' सूर्य स्वधारण शक्ति से विचरता है यह अर्थ तो अप्रतिहत है, स्थिर है। चाहे इस स्वधारण शक्ति को अपनी आकर्षण शक्ति नाम दे दिया जावे, बात एक ही है। वेदने उसको स्वधा-स्वधारण शक्ति महत्वपूर्ण नाम दिया है। (दिवः) यह सूर्य द्युमण्डल-प्रकाशमण्डल सारे प्रकाशमान गोल समूह का (समृतः स्कम्भः) दृढ़ खम्भा है, इसी से यह सारे गोले बन्धे हुए हैं (नाकं याति) यही इस सारे द्युमण्डल की रक्षा करता है।

इन मन्त्रों में बड़ी आश्चर्यता से वर्णन करते हुए सूर्य को अनायतः किसी दूसरे से आकर्षित न हुआ हुआ कहा है। इस

प्रकार अर्थापत्ति से सूर्य अपने ही आधार से आकाश में ठहरा हुआ है यह सिद्ध होते हुए भी अन्तिम मन्त्र के उत्तरार्द्ध में "कया याति स्वधया" स सूर्य स्वधारण शक्ति से ही आकाश में रहता है यह स्पष्ट कह दिया। तथा दूसरे स्थल पर भी वेद में सूर्य अपने आधार से ठहरा हुआ है, कहा है। मन्त्र निम्न है—

अयं स्तुतो राजा वन्दि वेधा अपश्च विप्रस्तरति स्वसेतुः।
स कक्षीवन्तं रेजयत्सो अग्निं नेमिं न चक्रमर्वतो रघुद्रु॥

(ऋ० १० । ६१ । १६)

खगोल में वर्त्तमान गोलों रूप प्रजाओं का स्वामी सूर्य 'स्वसेतुः अपने से ही बन्धा हुआ, किसी दूसरे से नहीं अर्थात अपने आधार पर ठहरा हुआ है।

"स्वसेतुः यस्य स्वभूता रश्मयो जगद्बन्धकाः संति" (सायणः)

'अपस्तरति' अन्तरिक्ष अर्थात आकाश में विचरता है।

"आपो अन्तरिक्ष नाम" (नि० १ । ३)

तथा चात्र सायणः—

"अपश्चान्तरिक्षं तरति लंघयति।"

वह सूर्य 'कक्षीवन्तम्' कक्षा वृत्त में घूमने वाले पृथिवी आदि प्रत्येक गोले को* तथा 'अग्निम्' अपने ज्वाला समूह को नेमि और

---

*'कक्षीवान्' के सम्बन्ध में देखो 'आर्यमित्र' के ऋष्यङ्क में 'कक्षीवान् का इतिहास' या 'वेद में इतिहास नही' नामक मेरी लिखी पुस्तक में।

चक्र की तरह कंपाता अर्थात घुमाता है। इससे यह भी एक बात सिद्ध होती है कि सूर्य का ज्वाला-समूह सूर्यपिण्ड के चारों ओर समुद्र जल के समान चक्र खाता रहता है। अस्तु, अब सूर्य के घूमने पर विचार करते हैं।

सूर्य का घूमना

—×—

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य ।
समानं चक्रं पर्याविवृत्सन् यदेतशो वहति धूर्षु युक्तः ॥

(ऋ० ७ । ६३ । २)

(सूर्यस्य) सूर्य का (अर्णवः) समुद्र तुल्य वेगवान (महान् केतुः) स्फुरण शील ज्वाला समूह* (जनानां प्रसवीता) जायमान पदार्थों का प्रेरक (उदेति) सूर्य से उद्भव होता है—सूर्य के अन्दर से बाहर स्फुरित होता है। जो (समानं चक्रं) सभी पृथिवी आदि के एक मानकारी—थामने वाले चक्ररूप गोलाकार मध्यस्थ

---

*उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम्" ॥

(ऋ० १ । ५० । १)

"उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः" (नि० १२ । १५)

बहुवचन 'केतवः' सूर्य किरणों को कहा है एवं एकवचन 'केतुः' का अर्थ सूर्य का किरण समूह या ज्वालासमूह है।

सूर्य को (पर्याविवृत्सन्) पर्यावर्त्तयितुमिच्छन्–पर्यावर्त्तयन्निव–परिभ्रामयन्निव स्वस्मिन् स्थाने भ्रामयन्नित्यर्थः—घुमाना चाहता हुआ–घुमाता हुआ जैसा अर्थात् दूसरे गोल के चारों ओर नहीं किन्तु स्वकेन्द्र पर ही घुमाता हुआ। (धूर्षु युक्त एतशः) धुरा में जुड़े घोड़े की तरह (वहति) गतियुक्त करता है।

इस मन्त्र में 'पर्याविवृत्सन्' शब्द से सूर्य का अपने केन्द्र पर घूमने का वर्णन है साथ में उसके घूमने का कारण भी सूर्य का अपना "अर्णवो महान् केतुः" समुद्रतुल्य चक्रवेगवान् महान् स्फुरणशील ज्वालासमूह बतलाया है। जैसे अग्निचूर्ण वाले चक्र (बारूद के चरखे) से वेग से निकलती हुई स्फुरणशील ज्वालाएं उसको घुमा देती हैं एव सूर्य की उक्त वेगवाली स्फुरणशील ज्वालाएं सूर्य को घुमा देती हैं। सूर्य का ज्वाला समूह स्फुरित होता है, यह बात भी वेद में कही है:—

"यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तु विष्मानवासृजत् सर्त्तवे सप्त सिन्धून्। यो रौहिणमस्फुरत् ॥ (ऋ० २। १२। १२)

सूर्य का अन्य गोलों के साथ सम्बन्ध

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः

(ऋ० १। ६। ३)

ऐ मनुष्यो ! यह सूर्य अपनी उष्ण किरणों से प्रकाशरहित को प्रकाश तथा अरूप को रूप देने के लिये प्रकट होता है।

इस मन्त्र से यह आया कि जितने भी आकाश में पृथिवी आदि गोले प्रकाशमान हैं वे सब सूर्य से प्रकाशित होते हैं।

"सवितुर्देवस्योपस्थे विश्वा भुवनानि तस्थुः" (ऋ० १।३५।५)

द्योतमान किरणों वाले प्रेरक सूर्य के आश्रय पर सारे पृथिवी आदि लोक आश्रित हैं अर्थात् उसके आकर्षण से ठहरे हुए हैं।

"एता उत्या उषसः केतुमक्रत पूर्वेऽर्धेरजसो भानुमञ्जते"

।(ऋ० १।९२।१)

ये सूर्य की उष्ण किरणें किसी भी लोक अर्थात् पृथिवी आदि गोल के 'पूर्व अर्द्ध' सामने वाले आधे भाग को प्रकाश से युक्त करती हैं पुनः दिन को बनाती हैं ❀

❀ऐतरेय ब्राह्मण में यही सिद्धान्त प्रतिपादित है :—

"स वा एष कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते अह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिमेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते, अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्॥

(ऐ० ब्रा० ३।४।६)

यह सूर्य कभी न अस्त होता है और न कभी उदय होता है। इसे अस्त हुआ जो माना जाता है वह दिन का अन्त कर पृथिवी के दूसरी ओर हो जाता है रात इधर कर देता है दिन परली ओर में। और जो इसको प्रातः काल उदय हुआ माना जाता है वह रात्रि का अन्त कर पृथिवी के इस ओर होजाता है दिन इधर कर देता है और रात उधर कर देता है।

आयातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः।

(अ० ३ । ८ । १)

सूर्य ऋतुओं के साथ युक्त हो अपनी 'उस्रियाभिः' किरणों से पृथिवी को नियत कक्षा में संविष्ट करता हुआ आता है। "उस्रियाभिः गोभिः किरणैरित्यर्थः" (सायण)।

सूर्य की किरणें

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश।

(ऋ० ६।४७।१८)

युक्ता ह्यस्य हरयः शतादशेति सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः। तेऽस्य युक्तास्तैरिदं सर्वं हरति" (जै० उ० १।४४।५)

"प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः···सहस्ररश्मिः। (प्रश्नोप०)

सूर्य की किरणें वायु के आधार पर सहस्रों के रूप में विकीर्ण हो जाती हैं। वैसे तो स्थूलरूप में रंगभेद से सात किरणें हैं।

"यः सप्तरश्मि वृषभस्तु विष्मान्...।" (ऋ० २।१२।१२)

यः सप्तरश्मिरिति। सप्त ह्येत आदित्यस्य रश्मयः।

(जै० उ० १।२६।८)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्त नामा'
(ऋ० १।१६४।२)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेकचारिणं चक्रं चकतेर्वा क्रामतेर्वा एको अश्वो वहति सप्तनामाऽऽदित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति (नि०४।२७)

इन्हीं सातों किरणों का विशेष विश्लेषण पूर्व कही सहस्र रश्मियों का विस्तार है । परन्तु इन सात किरणों में भी दो किरणें ही वेद में अनेक स्थानों पर प्रधान बतलाई हैं । यथाः—

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत । (ऋ० १।५।४)

जिस सूर्यकी दो किरणें निज वृत्ताकार सूर्यमण्डल में ऐसी हैं कि शत्रु जन उनको संग्रामों में सह नहीं सकते, उस सूर्य का हे विद्वानो ! तुम व्याख्यान करो, स्वयं जान कर दूसरों को भी इसका ज्ञान दो। ❀

मन्त्र में कही गई 'हरी' दो किरणें कौनसी हैं इसके सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है 'कि **"ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी"** (ऐ० ८।६) सूर्य की दो किरणें ऋक् और साम हैं जो

❀मन्त्र में 'समत्सु' संग्राम वाचक "समत्सु संग्राम नाम (नि०२।१७) और हरि का किरण अर्थ है 'हरिर्हरण आदित्य-रश्मिः' (नि० ७।२४)

कि "अथ यदेतादादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम "(छा० १।६।५) सूर्य की एक 'शुक्ल भा:' किरण है और दूसरी नीली जैसी कृष्ण किरण है। इन दो किरणों के मेल से संग्रामों में शत्रु जनों पर विजय प्राप्त हो सकता है। यहां ऐसा ध्वनित होता है कि इन दो किरणों के मेल से कोई अस्त्र 'सौरास्त्र' बन सकता है। ऋषि दयानन्द ने भी वेदभाष्यमें लिखा है "सूर्यकिरणैराग्नेयास्त्रादीनि शस्त्राणि" (ऋ० १।२०।६) सूर्य किरणों से आग्नेय अस्त्रादि बनाए जा सकते हैं। आग्नेय कांच द्वारा जो आग लग जाती है उसका कारण भी उक्त 'शुक्लभा:' और नीलरूप कृष्ण किरण ही हैं। जब आग्नेय कांच में दोनों मिलती हैं तभी आग लगती है। शेष किरणें इन्हीं दोनों किरणों की सहायक होती हैं। जहां शुक्लभा: है तथा नीली किरण नहीं है वहां प्रकाश के होते हुए भी जलाने का काम नहीं हो सकता। और जहां शुक्लभा: नहीं वहां अन्य किरणों के विद्यमान होने पर भी प्रकाश (दीप्ति) नहीं हो सकता। इस सम्बन्धमें खद्योत, दबी आग आदि उदाहरण हैं। अग्नि में भी उक्त शुक्लभा: और नीली रूप कृष्णकिरण ही जलाने के काम में आती हैं। सूर्य की न्याई अग्नि में सात किरणें हैं जो कि जिह्वाओं ज्वालाओं के नाम से कहलाती हैं—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुल्लिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः। (मु०)

सूर्य की मूल किरण 'शुक्लभा:' है शेष सभी किरणें शुक्लभा: को ही अपना आधार बनाती हैं । इसोलिये मुण्डकोपनिषद् में अग्नि में वर्त्तमान इस किरण का नाम 'विश्वरूपी' दिया है । यही सब को रूप देती है इसी में सब लीन होती हैं । वेद में इस मूल किरण के सम्बन्ध में लिखा है–

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं-षलिद्यमा ऋषयो देवजा इति । तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः । (ऋ० १।१६४।१५ ।

इस मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवा:' है । सूर्यकिरणों को 'विश्वेदेवा:' कहते हैं "तस्य सूर्यस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवा:" (शत० ४ । ३ । १ । २६) अतएव इस मन्त्र का अर्थ यह हुआ कि एक साथ प्रकट होने वाली सूर्य किरणों में से एक किरण 'शुक्लभा:' है जो कि सातवीं किरण है यह किरण एक ही कारण से उत्पन्न हुई है और शेष छ: किरण गतिशील हैं तथा द्युलोक में रहने वाले सूक्ष्म तत्त्वों के सम्बन्ध से उत्पन्न होती हैं । ये सभी किरणें रूप से भिन्न २ हुई स्फुरित हुआ करती हैं । इसी प्रकार—

इदँ सवितर्विजानीहि षड्यमा एक एकज : ।
तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः ।।

(अथ० १० । १ । ५)

इस मन्त्र में भी छः किरणों और एक किरण का वर्णन है। यह मन्त्र भी सूर्य सम्बन्धी है। इससे पूर्व 'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकम्' मन्त्र है। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि 'सूर्य सृष्टि का नियमन छः किरणों के द्वारा करता है और सातवीं शुक्लभाः या विश्वरूपी किरण एक ही कारण से उत्पन्न होती और इन सब में प्रधान है। अन्त में ये सब भिन्न २ रंग वाली किरणें इसी प्रधान शुक्लभाः किरण में लीन हो जाती हैं। पुनः भेद-भाव न रह कर केवल 'शुक्लभाः' किरण ही प्रतीत होती है।

यह किरणों का विभागात्मक विज्ञान है, अब केवल एक बात किरणों के सम्बन्ध में और बतलाते हैं। वह यह कि—

"भद्रा अश्वा हरित : सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आपृष्ठमस्थु : परिद्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।

(ऋ० १। ११५। ३)

"भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य" सूर्य की किरणें पृथिवी आदि गोलों पर 'सद्यः परियन्ति' फ़ौरन फैल जाती हैं, सैकेन्डों में ही पहुंच जाती हैं। "हरितो रसहरणशीला रश्मयः" (सायणः)।

सूर्य से उपयोग

—❀—

सूर्य से दो प्रकार के विशेष उपयोग लिये जा सकते हैं एक तो 'सौरास्त्र' जिसका वर्णन पीछे "यस्य संस्थे न वृण्वते हरी

समत्सु शत्रवः" मन्त्र द्वारा रश्मिप्रकरण में कर चुके हैं। दूसरा विशेष उपयोग रोग चिकित्सा में लिया जाता है। यथाः—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणञ्च नाशय ॥

(ऋ० १। ५०। ११)

इस मन्त्र में हृद्रोग और हलीमक रोग को दूर करने के लिये उदयकाल में सूर्य के उपयोग का वर्णन है। अस्तु,

यह सूर्य विज्ञान का संक्षिप्त वैदिक विचार आपके सम्मुख रखा। इसी प्रकार अन्य विज्ञान भी वेद में हैं। सभाओं तथा धनिकों की ओर से यदि वैदिक विद्वानों को सुविधा दी जावे तो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें वेद से बताई जा सकती हैं। इति।